जैन आगम एवं ग्रन्थों में वर्णित संलेखना (मृत्युकला) पर एक सर्वाङ्गीण अनुचिंतन।

□ मालव केशरी मुनि श्री सौभाग्यमल जी
[वयोवृद्ध संत, विद्वान् एवं प्रसिद्ध वक्ता]

संलेखना : एक श्रेष्ठ मृत्युकला

□

जीवन को कैसे जीये, आनन्दपूर्वक कैसे बितायें, इसकी शिक्षा देने वाले सैकड़ों शास्त्र आज हमारे सामने हैं, हजारों युक्तियाँ खोजी गई हैं, लाखों औषधों का अनुसंधान हुआ है और होता ही जा रहा है। मनुष्य सदा-सदा से इस खोज में लगा हुआ है कि वह कैसे आनन्दपूर्वक जिये। इसलिये वह आकाश-पाताल एक करता रहा है, किन्तु जीवन का अन्तिम चरण जहाँ समाप्त होता है। उसके विषय में शायद उसने बहुत ही कम सोचा है। वह चरण है, मृत्यु। मनुष्य ने आनन्दपूर्वक जीने की कला तो सीखी है, लेकिन आनन्दपूर्वक मरने की कला के विषय में वह अनभिज्ञ-सा है। बहुत कम, करोड़ों में एकाध विचारशील ऋषियों ने ही इस विषय पर सोचा है कि जीवन को सुखपूर्वक जीने के बाद प्राणों को सुखपूर्वक कैसे छोड़े? जैसे बचपन, यौवन और बुढ़ापा सुखपूर्वक बीता है, वैसे ही मृत्यु भी सुख एवं आनन्दपूर्वक आनी चाहिए। इस विषय पर सोचना बहुत आवश्यक है, जीवन कला तभी सार्थक है, जब मृत्यु कला सीख ली हो। मनुष्य जीवन भर आनन्द करे, खान-पान में, भोग-विलास में, राग-रंग और हँसी-खुशी में समय बिताये, चिन्ता, शोक, आपत्ति क्या होती हैं? इसका नाम भी न जाने, अर्थात् हर दृष्टि से सुख का अनुभव करे, किन्तु आखिरी समय, जब मृत्यु आ घेरती है, मौत का नगाड़ा बजता है। तब हाथ-पाँव काँपने लगे, अशांति और पीड़ा से व्यथित होकर तड़पता हुआ, विलखता हुआ, सबको धन-वैभव, भाई-बन्धु, पत्नी-पुत्र, मित्र आदि को छोड़कर चला जाय तो यह जीवन की कला, पूर्ण कला नहीं कही जा सकती, क्योंकि मृत्यु का भय और पीड़ा सम्पूर्ण जीवन के आनन्द को, चैन को यों नष्ट कर देता है, जैसे ओलों की वृष्टि का तेज प्रहार अंगूरों की लहलहाती वर्षों से देखी-सँभाली खेती को चौपट कर डालता है। मृत्यु समय की व्यथा जीवन के सब आनन्द को मिट्टी में मिला देती है।

इसलिए जीवन कला के साथ-साथ मृत्यु कला भी सीखना जरूरी है। जैसे मोटर गाड़ी का चलाना सीखने वाला उसे रोकना भी सीखता है। यदि किसी को गाड़ी चलाना तो आता हो, मगर रोकना नहीं आता हो तो उस चालक की क्या दशा होगी, चलाने की सब कला उसकी व्यर्थ। इसी प्रकार जीवन कला के साथ मृत्यु कला का सम्बन्ध है। एक कवि ने कहा है—

"जिसे मरना नहीं आया, उसे जीना नहीं आया।"

भारतवर्ष के ऋषियों ने जितना जीवन के विषय में चिन्तन किया है, उतना ही मृत्यु के विषय में भी सोचा है। जीवन कला के साथ-साथ उन्होंने मृत्यु कला पर भी गहरा मनन किया है, और इस रहस्य को प्राप्त कर लिया है कि मृत्यु के समय हम किस प्रकार हँसते हुए शान्ति और कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए प्राणों को छोड़ें। देहत्याग के समय हमें कोई मानसिक उद्वेग या चिन्ता न हो। किन्तु जैसे हम अपना पुराना, फटा हुआ वस्त्र उतार कर एक ओर रख देते हैं, उसी प्रकार की अनुभूति देहत्याग के समय रहे। जिस प्रकार पथ पर चलता हुआ यात्री मंजिल पर पहुँचकर विश्रान्ति का अनुभव करता है। उसी प्रकार की शान्ति और विश्रान्ति हमें देहत्याग के समय अनुभव हो। हमारी दृष्टि में शरीर त्याग-वस्त्र परिवर्तन या यात्रा की समाप्ति से अधिक कुछ नहीं है। जीवन की यह दृष्टि की मृत्यु कला है। और इस कला को सिखाने का सबसे अधिक प्रयत्न जैन श्रमण मनीषियों ने किया है, जिसे हम 'संलेखना' या 'मारणांतिक संलेखना' कहते हैं। प्रस्तुत लेख में हम इसी विषय पर शास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत्यु-विज्ञान

मनुष्य ने जीवन को जितनी गहराई से समझने का प्रयत्न किया है, मृत्यु को उतनी गहराई से कभी समझने की चेष्टा नहीं की। मृत्यु के विषय में वह अज्ञान रहा है। मृत्यु क्या है, क्यों आती है आदि प्रश्न ही उसे भयानक लगते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में वह सदा भयभीत रहा है। 'मृत्यु' शब्द ही उसे बहुत अप्रिय लगता है। इसका कारण क्या है ? हम जानते हैं कि सूर्योदय के बाद मध्यान्ह होगा और फिर संध्या होकर अंधेरा हो जायेगा, सूर्य डूब जायेगा, काली रात्रि आयेगी। यह रोज का अनुभव होते हुए भी यदि हम सूर्यास्त या रात्रि शब्द सुनकर डरें, संध्या के विषय में सोचने से कतरायें या सूर्यास्त शब्द सुनने पर बुरा-भला कहें तो क्या यह हमारी मूर्खता नहीं होगी ? सूर्योदय अगर जन्म है तो क्या सूर्यास्त मृत्यु नहीं है ? दिन यदि जीवन है तो क्या रात्रि मृत्यु नहीं है ? फिर दिन-रात और प्रातः-सायं की तरह जीवन-मृत्यु को एक-दूसरे का पर्याय क्यों नहीं समझते हैं ? और यदि समझते हैं तो उससे डरते क्यों हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। जानते-बूझते भी मनुष्य मृत्यु से डरता है और कहता रहता है—"मरण समं नत्थि भयं" मृत्यु के समान दूसरा कोई भय नहीं है। "भयः सीमा मृत्यु"—सबसे बड़ा और अन्तिम भय है, मृत्यु !

एक बार बादशाह ने लुकमान हकीम से कहा—"मैं मोटा होता जा रहा हूँ। दुबला होने की कोई दवा दो।" लुकमान ने कहा—"खाना कम खाइये, घी-दूध, मिठाई छोड़ दीजिए।"

बादशाह ने कहा, "यही सब करना होता तो आपसे दवा क्यों पूछता ? ऐसी दवा बताइये कि खाना-पीना भी न छोड़ना पड़े और मुटापा भी कम हो जाए।" दो-चार दिन बाद लुकमान हकीम ने एक दिन बादशाह से कहा—"आप चालीस दिन के भीतर ही मर जायेंगे।" मरने का नाम सुनते ही बादशाह को ऐसी दहशत बैठी कि बस, खाने-पीने में कोई मजा नहीं रहा। मरने के भय से ही सूखने लग गया। चालीस दिन में बादशाह की तोंद छट गई, मुटापा काफी कम हो गया। तब लुकमान ने कहा—"बस, अब नहीं मरेंगे।"

बादशाह ने ऐसा कहने का कारण पूछा तो लुकमान हकीम ने बताया—"दुबला होने की दवा है, भय ! भय मनुष्य को कमजोर और जर्जर कर देता है।" भयों में सबसे बड़ा भय है, मृत्यु। भगवान महावीर ने प्राणियों की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—"असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं।"[1] प्राणवध रूप असाता कष्ट ही सब प्राणियों को महाभय रूप लगता है।

साधारणतः मनुष्य किसी दुःख से घबरा कर, व्याकुल होकर, निराश और हताश होकर कह उठता है—"इस जीने से तो मरना अच्छा है।" किसी ने कहा है—"गुजर की जब न हो सूरत गुजर जाना ही अच्छा है।" कभी-कभी जीवन से इतनी निराशा हो जाती है कि भगवान के सामने मौत भी माँगने लगते हैं। "हे भगवान मुझे मौत दे। प्रभो ! अब मुझे उठा ले, अब मैं जीना नहीं चाहता। मेरी पर्ची चूहे खा गये क्या ?" इस प्रकार की बहकी हुई-सी बातें करने लगते हैं। किन्तु कब तक ? जब तक मौत सामने नहीं आये। मौत आने पर तो गिड़गिड़ा कर बचने की ही कोशिश करते हैं।

इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त याद आता है। एक दुखियारी बुढ़िया रोज सिर पीटकर कहती थी, "हे परमेश्वर ! सब दुनिया को मौत दे रहा है, पर मेरी पर्ची कहाँ भूल गया ! मुझे उठा ले ! मेरी मौत आ जाए तो अच्छा है।" एक दिन रात को घर में साँप निकल आया। बुढ़िया ने जैसे ही साँप देखा तो "साँप-साँप" कहकर चिल्लाई और बाहर दौड़ी। अड़ोसी-पड़ोसी को बुलाया। सब लोग आये। साँप देखकर एक व्यक्ति ने कहा—"दादी ! तू रोज पुकारती थी—परमेश्वर मौत दे दो, आज भगवान ने मौत भेज दी तो तू डर रही है ?"

दुःख री दाधी डोकरी कहे परमेश्वर मार।
साँपज कालो निकल्यो, न्हाठी घर सूँ बार॥

तो क्रोध, भय, गरीबी, बीमारी आदि स्थितियों से घबराकर भले ही कोई मरना चाहे या मरने की इच्छा करे, पर वास्तव में जब मौत विकराल रूप लेकर सामने आती है तब व्यक्ति उससे बचने की चेष्टा करता है और उस दीन हरिण की भाँति बेतहाशा दौड़ता है, जिसके पीछे कोई शिकारी पड़ा हो।

सोचना यह है कि मृत्यु से इतना भय क्यों ? मृत्यु क्या है, इस विषय पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो शरीर इन्द्रियाँ आदि प्राप्त हुए हैं उनका सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम ही मृत्यु है। जैन सिद्धान्त में दस

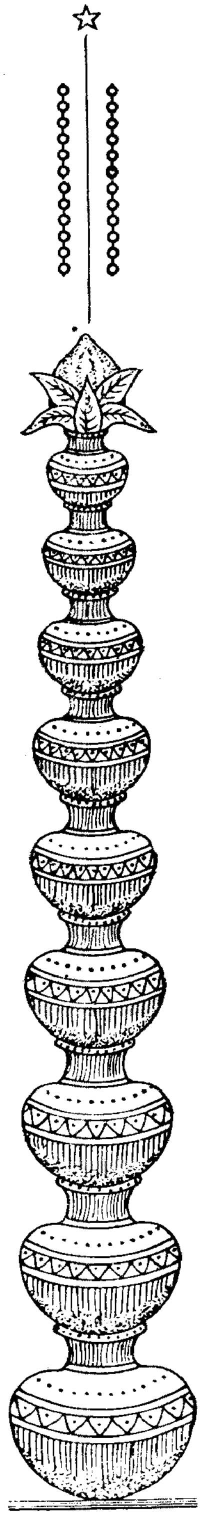

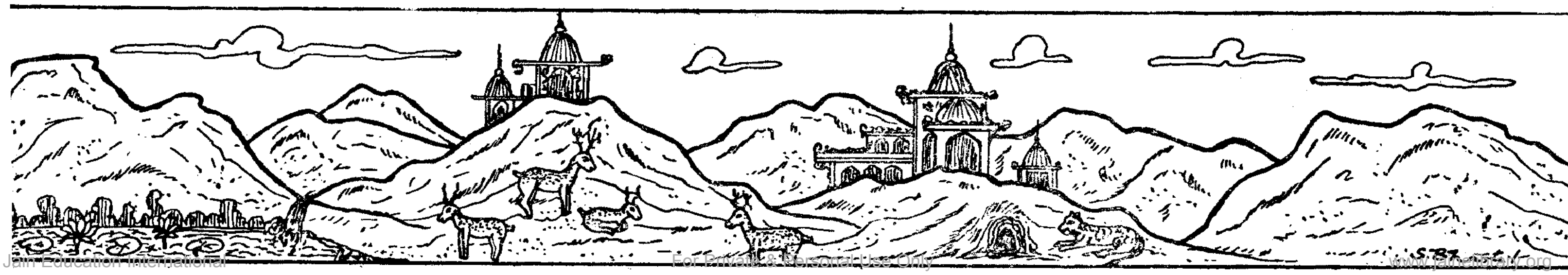

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राण बताये हैं। आयुष्य, पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया और श्वासोच्छ्वास-बल-इन दस प्राणों का संयोग जन्म है और इनका वियोग मृत्यु है। जन्म के पश्चात् और मृत्यु के पूर्व प्राणी आयुष्कर्म का प्रतिक्षण भोग करता रहा है। एक प्रकार से वह प्रतिक्षण आयुष्य की डोरी काटता जाता है। अंजलि में भरे हुए पानी की तरह आयुष्य का जल बूंद-बूंद करके प्रतिपल, प्रति समय घटता जाता है। इस समय को हम जीवन कहते हैं। वास्तव में वह जीवन प्राणी की प्रतिक्षण मृत्यु (अविचिमरण) का ही दूसरा नाम है। गीता की भाषा में मृत्यु का अर्थ है, पट-परिवर्तन। कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।[२]

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने, फटे हुए वस्त्रों को छोड़कर शरीर पर नये वस्त्र धारण कर लेता है। वैसे ही यह देहधारी जीव पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इस कथन से स्पष्ट है कि मृत्यु वस्त्र परिवर्तन की तरह देह-परिवर्तन का नाम है। पुराना वस्त्र छोड़ने पर जैसे शोक नहीं होता, वैसे ही पुराना शरीर त्यागने पर शोक नहीं होना चाहिए, किन्तु व्यवहार में इसके विपरीत ही दीखता है। मृत्यु के नाम से ही हाय-तोबा मच जाती है। इसके तीन कारण हैं—(१) मृत्यु के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा, (२) जीवन के प्रति आसक्ति और (३) भवान्तर में सद्गति योग्य कर्म का अभाव।

मृत्यु प्रतीक्षण हो रही है

यह तो निश्चित है कि जन्म के साथ मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। जैन सूत्रों में पाँच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमें प्रथम मरण है—'आवीचि मरण'। वीचि का अर्थ है, समुद्र की लहर। समुद्र में जैसे एक लहर उठती है, वह आगे चलती है, उसके पीछे दूसरी, फिर तीसरी। यों लहर पर लहर उठती जाती है। और लगातार अनन्त लहरों का नर्तन समुद्र की छाती पर होता रहता है। समुद्र की लहर की भाँति मृत्यु-रूपी लहर भी निरन्तर एक के पीछे दूसरी आती-जाती है। प्रथम क्षण बीता, दूसरा क्षण प्रारम्भ हुआ। पहले क्षण की समाप्ति जीवन के एकक्षण की समाप्ति—मृत्यु है। वृतिकार आचार्य ने 'आवीचि मरण' की व्याख्या करते हुए कहा है—

"प्रति समयमनुभूयमानायुषोऽपराऽयुर्दलिको-दयात् पूर्वपूर्वाऽयुर्दलिक विच्युतिलक्षणाः।"[3]

अर्थात् प्रत्येक समय अनुभूत होने वाले आयुष्य के पूर्व-पूर्व दलिक का भोग (क्षय) और नये-नये दलिकों का उदय (जन्म) फिर उसका भोग। इस प्रकार प्रतिक्षण आयु दलिक का क्षय होना—आवीचि मरण है।

आचार्य अकलंक ने इसे ही 'नित्यमरण' कहा है। आचार्य ने कहा है—मरण के दो भेद हैं। 'नित्यमरण' और 'तद्भव मरण' प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो क्षय हो रहा है, वह नित्यमरण है तथा प्राप्त शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव मरण है।[४]

इससे यह स्पष्ट समझना चाहिए कि हम जिसे आयु वृद्धि कहते हैं, वह वास्तव में वृद्धि नहीं, ह्रास है, मृत्यु की ओर बढ़ते हुए कदम का ही नाम अवस्था बढ़ना है। मृत्यु का प्रतिक्षण जीवन में अनुभव हो रहा है, हम प्रति समय मृत्यु की ओर जा रहे हैं, अर्थात् मरण का अनुभव कर रहे हैं। फिर भी हम उससे भयभीत नहीं होते, अतः इसी प्रकार की वृत्ति बनानी चाहिए कि मृत्यु को प्रतिपल देखते हुए भी हम निर्भय बने रहे और यह सोचें कि मृत्यु कोई नई वस्तु नहीं है।

दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिए कि मृत्यु निश्चित है—

जातस्यहि ध्रुवो मृत्युः[५]

अर्थात् जो जन्मा है, वह निश्चित ही मरेगा। भगवान महावीर ने कहा है—

ताले जह बंधणच्चुए एवं आउखयंमि तुट्टइ।[६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार ताल का फल वृन्त से टूटकर नीचे गिर पड़ता है, उसी प्रकार आयुष्य क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।

चाहे जितना बड़ा शक्तिशाली समर्थ पुरुष हो, उसे यहीं समझना चाहिए कि—

नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि[७]

अर्थात् मृत्यु का अनागम (नहीं आना) नहीं है, अर्थात् मृत्यु अवश्य ही आयेगी। यह अवश्यंभावी योग है, अपरिहार्य स्थिति है। लाख प्रयत्न करने पर भी इससे नहीं बचा जा सकता। अर्थात् प्राणी की एक मजबूरी है कि वह जन्मा है, इसलिए मरना भी होगा, फिर इससे डरना क्यों?

जिस प्रकार एक जुलाहा (तंतुवाय) वस्त्र बनाना शुरू करता है, ताना-बाना बुनता हुआ वह दस-बीस गज का पट बना लेता है, किन्तु कहाँ तक बनाता जाएगा? आखिर तो एक स्थिति आयेगी, जहाँ पर ताना-बाना काटकर पट को पूरा करना होगा और थान को समेटना पड़ेगा। जीवन का ताना-बाना भी इसी प्रकार चलता है। काल का जुलाहा इस पट को बुनता जाता है, किन्तु एक स्थिति अवश्य आती है, जब थान को समेटना भी पड़ेगा। थान का समेटना ही एक प्रकार की मृत्यु है। जो सुबह जगा है, उसे रात को सोना भी पड़ता है। यदि नींद न हो तो मनुष्य का क्या हाल हो? जागरण और शयन का चक्र चलता है, वैसे ही जन्म और मृत्यु का चक्र सतत चलता है, चलता ही रहेगा। इसे कोई टाल नहीं सकेगा।

कल्पसूत्र में वर्णन आता है कि भगवान महावीर से देवराज शक्रेन्द्र ने प्रार्थना की—"भगवन! आपकी जन्म-राशि पर भस्म ग्रह बैठा है, अत: आप अपना आयुष्य कुछ क्षण के लिए आगे बढ़ा दीजिए।"

भगवान ने कहा, "**सक्का ण ऐवं भूयं वा भविस्सई वा······**।" हे शक्र! यह न कभी हुआ और न कभी होगा कि अनन्त बली तीर्थङ्कर भी अपने आयुष्य का एक क्षण-भर भी घटा ले या बढ़ा ले।

इससे यह ध्वनित होता है कि मृत्यु को सर्वथा टालना तो दूर रहा, किन्तु उसे हम एक क्षण के लिए भी टालने में समर्थ नहीं है। आयुष्य कर्म के दलिक का क्षय होने के बाद एक दलिक भी बढ़ा लेना किसी के सामर्थ्य की बात नहीं है।

मरण-शुद्धि भी करें

तो मृत्यु का भय दूर करने के लिए पहली बात है—हम उसका यह स्वरूप समझ लें कि वह एक प्रकार से वस्त्र-परिवर्तन की भाँति ही देह-परिवर्तन है—अवश्यंभावी भाव है और प्रतिक्षण मृत्यु की छाया में से गुजर रहे हैं, इसलिए उससे डरने की कोई बात नहीं है।

जैसे सुभट शस्त्रों से सन्नद्ध होकर अपनी सुरक्षा और विजय के सभी साधन जुटाकर यदि युद्ध में जाता है तो वह कभी डरता नहीं, उसका मन प्रफुल्लित रहता है, उत्साहित रहता है कि मेरे पास सब तैयारी है, मैं अवश्य ही विजयी बनूंगा। यात्रा पर जाता हुआ पथिक साथ में पाथेय (नाश्ता) लेकर चलता है तो उसे निश्चिन्तता रहती है कि मेरे पास सब साधन है। जहाँ धन की जरूरत होगी, धन है, अन्न की जरूरत होगी तो अन्न है। सब साधनों से सम्पन्न होने पर यात्रा पर प्रस्थान करते समय वह अगली मंजिल के प्रति कभी भयभीत नहीं होता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने जीवन के सत्कर्म, पुण्य, तप, ध्यान-योग आदि की साधना की हो, उसे परलोक की यात्रा पर प्रस्थान करते समय कभी भी भय व उद्वेग नहीं सताता। वह कहता है—

गहिओ सुग्गइ मग्गो नाहं मरणस्स बीहेमि[८]

अर्थात् मैंने सद्गति का मार्ग ग्रहण कर लिया है, जीवन में धर्म की आराधना की है। अब मैं मृत्यु से नहीं डरता। मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है।

वास्तव में जन्म के विषय में हम अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। स्थान, समय, कुल आदि सब कुछ देवायत्त—भाग्य के अधीन रहते हैं, किन्तु मृत्यु के विषय में यह नियम इतना कठोर नहीं है। जन्म कहीं भी हो, किन्तु जीवन को कैसा बनाना और मृत्यु के लिए कैसी तैयारी करना—यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है। हम तप, ध्यान आदि के द्वारा जन्म पर न सही, किन्तु मृत्यु पर अधिकार कर सकते हैं। पुरुषार्थ द्वारा जीवन-शुद्धि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरण-शुद्धि भी कर सकते हैं, और जो मृत्यु संसार के लिए शौक का कारण बनती है, वही मृत्यु हमारे लिए महोत्सव बन सकती है।[9]

प्रश्न यह है कि हम मरण-शुद्धि किस प्रकार करें, मृत्यु के भय को उल्लास के रूप में किस प्रकार बदलें ? बस, यही कला मृत्यु कला है। जीने की कला सीखना आसान है। किन्तु मरने की कला सीखना कठिन है। जैन-शास्त्र मनुष्य को जीने की कला ही नहीं सिखाते, बल्कि मरने की कला भी सिखाते हैं। मृत्यु से अभय होकर मृत्युंजय बनने का मार्ग बताते हैं। इस सम्बन्ध में मरण-विषयक चर्चा पर हमें गम्भीरता से विचार करना है।

मरण के विविध भेद

भगवती सूत्र में एक प्रसंग है। स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् से पूछा—"भगवन् ! किस प्रकार का मरण प्राप्त करने से भव परम्परा बढ़ती है और किस प्रकार के मरण से घटती है ?"

उत्तर में भगवान ने मृत्युशास्त्र की काफी विस्तृत व्याख्या स्कन्दक के समक्ष प्रस्तुत की।

भगवान ने कहा—"बाल-मरण प्राप्त करने से जन्ममरण की परम्परा बढ़ती है और पंडित मरण प्राप्त करने से भव परम्परा का उच्छेद हो जाता है।"[10]

उत्तराध्ययन में भी इसी तरह दो प्रकार के मरण की चर्चा है—सकाम मरण और अकाम मरण। यहाँ सकाम का अर्थ है—'विवेक एवं चारित्र युक्त' तथा—'सदसद्विवेक विकलतया तेषां अकाम'—विवेक रहित मरण अकाम मरण है। अकाम मरण (बाल मरण) अज्ञानी जीव बार-बार करते रहते हैं, किन्तु सकाम मरण (पंडित मरण) जीवन में एक बार ही होता है।[11]

यहाँ पंडित मरण एक बार ही बताया गया है, जिसका अर्थ है—ऐसी मृत्यु जो बस अन्तिम मृत्यु हो, ज्ञानी कर्म क्षयकर ऐसी मृत्यु प्राप्त करते हैं कि पुनः मरना ही न पड़े। वास्तव में वही मृत्यु तो महान् मृत्यु है, जिसको स्वीकार कर लेने पर फिर कभी मृत्यु न आये। 'मरण विभक्ति' नामक ग्रन्थ में एक जगह कहा है—

'तं मरणं मरियब्वं जेणमओ मुक्कओ होई।[12]

अर्थात् मरना ही है तो ऐसा मरण करो कि जिससे मरकर सीधे ही मुक्त हो जाएँ। मृत्यु के चक्र से सदा-सदा के लिए छुटकारा हो जाए, ऐसा मरण मरना ही पंडित मरण है।

पंडित मरण की व्याख्या के पूर्व बालमरण का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने बालमरण के बारह भेद इस प्रकार बताये हैं—

(१) **बलन्मरण**—सामान्यतः बलन्मरण का अर्थ करते हैं, भूख-प्यास से तड़पते हुए प्राण त्यागना। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में बलन्मरण का अर्थ इस प्रकार बताया है—

संजम जोग विसन्ना मरंति जे तं तु बलायमरणं तु।[13]

अर्थात् संयम-साधना स्वीकार कर लेने के बाद उसमें मन नहीं रमे, उसकी दुष्करता से घबरा जाए और व्रतों का पालन छोड़ दे, साधु वेश का भी त्याग करना चाहें, किन्तु लोक-लज्जा आदि कारणों से साधु वेश का त्याग न करते हुए उसी रूप में देह त्यागना। इस स्थिति में व्रत का सर्वथा भंग तो हो ही जाता है, किन्तु वेश जरूर रहता है। इसी कारण इसे बलन् मरण-संयम का त्याग करते हुए मरना कहते हैं।

(२) **बसट्ट मरण**—इन्द्रिय विषयों में आसक्त हुए प्राण त्यागना, जैसे—दीपक की लौ पर गिरकर मरने वाला पतंगा, अपनी प्रेयसी आदि के लिए मरने वाले का भी वसट्टमरण समझना चाहिए।

(३) **अन्तःशल्य मरण**—इसके दो भेद हैं १. द्रव्य अन्तः शल्य मरण—शरीर में बाण आदि घुसने से होने वाली मृत्यु तथा २. भाव अन्तःशल्य मरण-अतिचार आदि की शुद्धि किये बिना मरना।

(४) **तद्भव मरण**—मनुष्य आदि शरीर को छोड़कर फिर उसी शरीर की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए मरना।

(५) **गिरिपडण**—पर्वत आदि से गिर कर मरना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) **तरुपडण**—वृक्ष आदि से गिरकर मरना।
(७) **जलप्पवंस**—जल में डूबकर मरना।
(८) **जलणप्पवंस**—ज्वलन, अर्थात् अग्नि में गिरकर मरना।
(९) **विसभक्खण**—जहर आदि मारक पदार्थ खाकर प्राण त्यागना।
(१०) **सत्थोवाडण**—छुरी, तलवार आदि शस्त्र द्वारा प्राण वियोजन होना या करना।
(११) **विहाणस**—गले में फाँसी लगाकर, वृक्ष आदि की डाल पर लटककर मृत्यु प्राप्त करना।
(१२) **गिद्ध पविट्ठमरण**—गृध्र, श्रृगाल आदि मांसलोलुप जंगली जानवरों द्वारा शरीर का विदारण होना।

यह बारह प्रकार का बाल मरण है। क्रोध आदि कषाय, भय, वासना तथा निराशा आदि से प्रताड़ित होकर प्राणी जीवन को समाप्त करने पर उतारू हो जाता है। उसमें विवेक ज्ञान की ज्योति लुप्त हो जाती है। हीन भावनाएँ प्रबल रहती है, जिनके आवेश में वह शरीर का नाश कर बैठता है। बाल-मरण प्राप्त करने वाला जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है। बाल-मरण एक प्रकार से जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण समाप्ति है। अमूल्य जिन्दगी को कौड़ियों के मोल खो देने वाला सौदा है। इसमें प्राणी की मोक्ष कामना सफल नहीं हो पाती, इसीलिए इसे अकाम मरण कहा है। सकाम-मरण के भी दो भेद किये गए हैं—

(१) पंडित मरण, (२) बाल-पंडित मरण। आचार्यों ने बताया है—

अविरय मरणं बाल मरणं विरयाण पंडियं बिंति।
जाणाहि बाल पंडिय-मरणं पुण देसविरयाणं॥[१४]

—विषय-वासना में आसक्त अविरत जीवों का मरण 'बाल-मरण' है। विषय-विरक्त संयमी जीवों का मरण 'बाल-पंडित मरण' है। स्थानांग सूत्र[१५] में तीनों ही प्रकार के मरण के तीन-तीन भेद भी बताये हैं, जिनमें उनकी लेश्याओं की क्रमिक शुद्धि-अशुद्धि को लक्ष्य कर जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट स्थिति दर्शायी गई है।

पंडित मरण और बाल पंडित मरण में मुख्यतः पात्र का भेद है। वैसे तो दोनों ही जीवन की अन्तिम स्थिति में समाधिपूर्वक प्राण त्याग करते हैं, किन्तु 'साधु का पंडित मरण' कहलाता है। जबकि श्रावक का 'बाल-पंडित मरण' इसलिए बाल पंडित मरण का वर्णन स्वतन्त्र रूप से नहीं किया गया है। किन्तु पंडित मरण में ही इसका अंतर्भाव किया गया है।

स्थानांग[१६] में ही दो प्रकार के प्रशस्त मरण का वर्णन किया है—जहाँ 'पादपोपगमन मरण' और 'भक्त प्रत्याख्यान मरण'—ये दो भेद बताये हैं।

भगवती सूत्र में भी स्कन्दक के सामने इन्हीं दो प्रकार के पंडित मरण की व्याख्या की गई है। किन्तु उत्तराध्ययन की प्राकृत टीका में पंडित मरण के तीन भेद और पाँच भेद बताये हैं। तीन भेद हैं—भत्त परिण्णा, इगिणि पाओव गमं च तिण्णि मरणाइं।[१७]

अर्थात्—(१) भक्त परिज्ञा मरण,
(२) इंगिणि मरण,
(३) पादोपगमन मरण।

इसी टीका में चौथा छद्मस्थ मरण और पांचवां केवलि मरण ये दो भेद और कर पाँच भेद भी बताये गए हैं।

पंडित मरण—वास्तव में मरण की कला है। साधक मृत्यु को मित्र मान कर उसके स्वागत की तैयारी करता हुआ अपने जीवन की समीक्षा करता है, अपने आचरण पर स्वयं टिप्पणी लिखता है। एक प्रकार से स्वयं को स्वयं के आइने में देखता है। भूलों पर पश्चात्ताप और आलोचना कर आत्म-विशुद्धि करता है। मन को प्रसन्न और उल्लासमय बनाता है तथा भावी जीवन के प्रति भी अनासक्त होकर निर्भयतापूर्वक मरण का वरण करता है। ज्ञानी व्यक्ति के उदात्त चिन्तन की एक झलक प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट की है—

धीरेणऽवि मरियव्वं कापुरसेणावि अवस्स मरियव्वं।
तम्हा अवस्स मरणे, वरं खु धीरत्तेण मरिउं॥[१८]

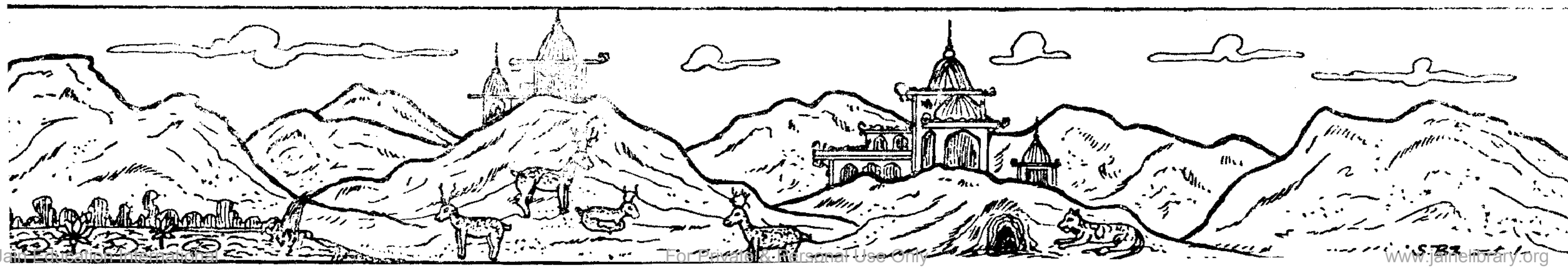

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीर-वीर की भी मृत्यु निश्चित है और कायर कमजोर की भी। मरना तो अवश्य ही है, फिर कायरता-पूर्वक क्यों मरें ? क्यों न साहस के साथ वीर मृत्यु प्राप्त करें। वीर मृत्यु प्राप्त करने का यह संकल्प ही हमें समाधि मरण की ओर ले जाता है। जिसे हम 'पंडित मरण' कह चुके हैं। मरण विभक्ति में बताया है—

सुत्तत्थ जाण एणं समाहि मरणं तु कायव्वं।

सूत्र और अर्थ के ज्ञाता मनीषी को तो समाधि मृत्यु प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

पण्डित-मरण के तीन भेद

पंडित-मरण के तीन मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

(१) **भक्त प्रत्याख्यान मरण**—जीवन पर्यन्त (यावज्जीवन) तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग कर देह छोड़ना।

(२) **इंगिनी मरण**—यावज्जीवन चारों आहार का त्याग करने के बाद एक निश्चित सीमा और स्थान पर स्थिर हो जाना, उसी स्थान के भीतर रहते हुए शान्तिपूर्वक देह त्याग करना।

(३) **पादपोगमन मरण**—इंगिनी मरण में स्थान की सीमा तो बाँध दी जाती है, किन्तु शरीर की हलन-चलन क्रिया, हाथ-पैर आदि का हिलाना चालू रहता है, किन्तु पादोपगमन में पादप वृक्ष की भाँति निश्चल होकर लेटे रहना होता है। यह परमस्थिर और प्रशन्न दशा है। मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए साधक शरीर की समस्त चेष्टाओं को छोड़कर आत्मचिन्तन में निमग्न हो जाता है। ये तीनों ही स्थितियाँ क्रमशः एक-दूसरे से अधिक कठिन और संयम की कठोरतम साधना है। इन उक्त प्रकार की स्थितियों में संसार की वासना और भावना से मुक्त रहकर सिर्फ आत्मदर्शन और आत्मचिन्तन में लीनता प्राप्त की जाती है, अतः ये तीनों ही पंडित मरण या समाधि-मरण कहे जाते हैं।

मरण की इच्छा क्यों ?

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि चाहे बाल मरण हो या पंडित मरण, क्या हमें मृत्यु की इच्छा करनी चाहिए। जैसे कुछ लोग या अधिकांश लोग जीने की इच्छा रखते हैं। इससे उनकी जिजीविषा, जीने के प्रति आसक्ति, प्राणों का मोह झलकता है। इसी प्रकार यदि कोई मरने की इच्छा करे तो वह जीवन की अनिच्छा है। और उसमें क्या जीवन के प्रति अनासक्ति और निर्मोह भाव माना जाएगा ?

इसका समाधान है कि जैसे जीने की इच्छा प्राणों का मोह है, वैसे मरने की इच्छा भी एक मोह है दुर्बलता है। मृत्यु की अभिलाषा करना भी उतना ही बुरा है, जितना जीने का मोह रखना। मृत्यु की तो इच्छा रखने का सीधा अर्थ है—वह व्यक्ति जीवन से निराश हो चुका होगा। जीवन में असफल होने वाला या हताश होने वाला ही मृत्यु की इच्छा करता है, अन्यथा कौन ऐसा होगा, जो हाथ के लड्डू को छोड़कर कढ़ाई में पड़े लड्डू की इच्छा करे ?

भगवान महावीर ने साधक के लिए दोनों ही बातें अचिन्तनीय-अनभिलषनीय बताई हैं—

जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नाभिपत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा जीविए मरणे तहा ॥[१६]

जीवन की आकांक्षा भी नहीं करनी चाहिए और मृत्यु की कामना भी नहीं रखनी चाहिए। जीवन-मरण दोनों ही विकल्पों से मुक्त रहकर अनासक्त भाव से आत्मस्थित रहना चाहिए। जब तक शरीर में प्राण टिके हुए हैं, साधक को आत्मदर्शन में स्थिर रहना चाहिए। यही नहीं कि यहाँ के कष्टों से छुटकारा पाने के लिए और आगे स्वर्ग या निर्वाण के सुखों को शीघ्र प्राप्त करने के लिए जीवन की डोरी को काट दिया जाए। जीवन की डोरी को काटने का प्रयत्न भी एक प्रकार की आत्म-हत्या है। इसमें किसी न किसी प्रकार का लोभ, भय, ग्लानि या निराशा आदि मुख्य रहता है, जबकि साधक को तो इन सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर मन को निर्द्वन्द्व बनाना है। अतः यह तो स्पष्ट स्थिति है कि कषाय विकार, उद्वेग तथा मानसिक दुर्बलता से त्रस्त हुआ व्यक्ति कभी भी समाधि मरण प्राप्त नहीं कर सकता। समाधि मरण जैसे जीने की इच्छा नहीं हैं वैसे मरने की भी इच्छा नहीं है। किन्तु मृत्यु के भय से मुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर शरीर द्वारा कर्म निर्जरा की एक विशुद्ध भावना है। समाधि मरण के लिये वही प्रस्तुत हो सकता है, जिसके मन में आहार आदि भौतिक सुखों के प्रति सर्वथा अनासक्ति पैदा हो गई हो और जो शरीर को कर्म निर्जरा के युद्ध में लगाकर अधिक से अधिक आत्म विशुद्धि करने के लिए कृतसंकल्प हो।

अनशन (संथारा) या संलेखना कब करना, किस स्थिति में करना, इस सम्बन्ध में भगवान महावीर ने बार-बार चिन्तन स्पष्ट किया है। कहा गया है[२०]—

"जिस भिक्षु के मन में यह संकल्प जगे कि अब मैं अपने इस शरीर से अपनी नित्य क्रियाएँ करने में अक्षम हो रहा हूँ, शरीर काफी क्षीण हो चुका है, शक्ति क्षय हो गई है, उठने-बैठने और चलने में मुझे क्लेश का अनुभव हो रहा है। और शरीर धर्म-साधना में जुटे रहने से जवाब देने लगा है। अब इस शरीर को धारण किये रखने का कोई विशेष लाभ नहीं दीखता है और बहुत जल्दी ही इस शरीर से प्राण अलग होने की दशा आ रही है।" तब उसे स्वयं ही शरीर और मन पर नियन्त्रण कर आहार का संवरण (संक्षेप या त्याग) करने की ओर अग्रसर हो जाना चाहिए। मात्र आहार का ही नहीं, कषायों को भी क्षीण करते जाना चाहिए। शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता और एकाग्रता का विशेष अभ्यास शुरू कर देना चाहिए। उसे फलगावयट्ठी, फलक—काष्ट पट्ट की भाँति स्थिर चेता सहिष्णु और ध्यान योगारूढ़ हो जाना चाहिए।"

यदि हम इस शास्त्र वचन के प्रकाश में चिन्तन करें तो स्पष्ट ही समझने में आयेगा कि इस शब्दावली में कहीं भी मरण की इच्छा नहीं झलक रही है और न जीवन के प्रति निराशा का ही कोई स्वर सुनाई देता है। किन्तु स्पष्टतः साधक की आत्म दृष्टि परिलक्षित होती हैं। वह आत्म-कल्याण के लिए समुद्यत होने का संकल्प लेकर ही अनशन की ओर प्रवृत्त होता है, तो इस प्रकार के महान संकल्प को, वीरता और साहसपूर्ण चिन्तन को हम कायरता के प्रतीक आत्म-हत्या जैसे लांछित शब्दों के साथ कैसे बोल सकते हैं? आत्म-हत्या हीन मनोवृत्ति है, कायरता है, क्लिष्ट और आवेशपूर्ण दशा है, जबकि अनशन (संलेखना) जीवन शुद्धि का उच्च संकल्प है। इसमें चित्त प्रशान्त, उद्वेग रहित, अध्यवसाय निर्मल और मन वीरता से परिपूर्ण रहता है।

संलेखना का स्वरूप

संलेखना मन की इसी उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना-मृत्यु का आकस्मिक वरण या मौत का आह्वान नहीं है, किन्तु वह जीवन के अन्तिम पथ पर सावधानीपूर्वक निर्भय होकर चलना है। मृत्यु को सामने खड़ा देखकर साधक उसकी ओर बढ़ता है। पर धीमे कदम से, शान्ति के साथ और उसे मित्र की भाँति पुकारता हुआ। हे काल मित्र! तुम आना चाहते हो तो आओ। इस शरीर को उठाना चाहते हो तो उठा लो, मुझे न तुम्हारा भय है और न शरीर का मोह है। मैं जिस कार्य के लिये इस मनुष्य भव में आया था, उसको पूर्ण करने में सतत संलग्न रहा हूँ। मैंने अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया है, मैं कृतकाम हूँ, इसलिए मुझे न मृत्यु का भय है और न जीवन का लोभ है।

लहिओ सुग्गइ मग्गो नाहं मच्चुस्स बीहेमी।

अगले जन्म के लिए भी मैंने सुगति का मार्ग पकड़ लिया है। इसलिए अब मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है, मैं काल से नहीं डरता।

संलेखना का वर्णन आगमों में अनेक प्रकरणों में आता है। गृहस्थ साधक श्रावक भी जीवन की कृत-कृत्यता का चिन्तन कर अन्तिम समय में संलेखना करता है और साधु भी करता है। चाहे श्रावक हो या श्रमण, संलेखना प्रत्येक आत्मार्थी के जीवन का अन्तिम व आवश्यक कृत्य है। यह जीवन मन्दिर का कलश है। यदि संलेखना के बिना साधक प्राण-त्याग कर देता है तो उसके लिए एक कमी जैसी मानी जाती है।

प्रश्न होता है कि जीवन मन्दिर के कलश रूप संलेखना का अर्थ क्या है तथा इसे संलेखना क्यों कहा गया है? आगमों के पाठ तथा उन पर आचार्य कृत विवेचन के प्रकाश में देखे तो संलेखना की निम्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं—

संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना।[२१]

—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल व कृश किया जाता है, वह 'संलेखना' है।

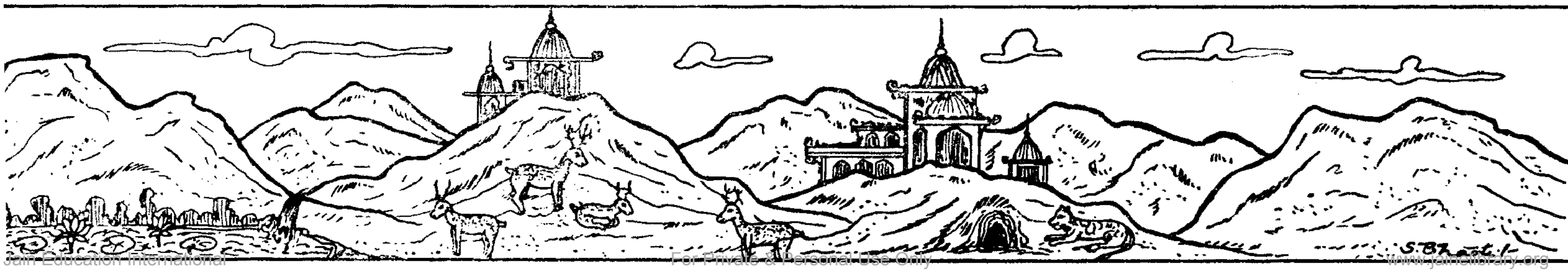

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय शरीरकृशतायाम्।[२२]

—कषाय एवं शरीर को कृश करने के अर्थ में 'संलेखना' शब्द का प्रयोग होता है।

आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणम्।[२३]

—शास्त्र में बताई हुई विधि के अनुसार शरीर एवं कषाय आदि अन्तर वृत्तियों का आकर्षण क्षीण करना।

आगमप्रसिद्ध चरमानशनविधि क्रियायाम्।[२४]

—शास्त्रों में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को 'संलेखना' के रूप में बताया गया है।

उक्त परिभाषाओं से दो-तीन प्रश्न समाहित हो जाते हैं।

पिछले प्रकरण में पण्डित-मरण के तीन भेदों में प्रथम भेद 'भक्त प्रत्याख्यान' बताया गया है। भक्त प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—यावत्कथिक और इत्वरिक। यावत्कथिक को मारणान्तिक अनशन भी कहते हैं।[२५] इत्वरिक अनशन एक निश्चित समय तक का होता है, जैसे—उपवास, बेला आदि से छह मासी तप तक। इस तप की अवधि पूर्ण होने पर आहार की इच्छा रहती है, इसलिए इसे 'सावकांक्ष' कहा गया है। इत्वरिक अनशन की प्रक्रिया जीवन में बार-बार अपनाई जाती है। अनेक प्रकार की तपोविधियाँ अपनाकर साधक कर्म-निर्जरा करता रहता है। यावत्कथिक तप को 'मारणांतिक तप' इसीलिए कहा गया है कि यह मरण पर्यन्त स्वीकार किया जाता है। इस तप को स्वीकार करने वाला आहार की इच्छा से सर्वथा मुक्त हो जाता है। भोजन पानी की किंचिन्मात्र वासना भी उसके मन में नहीं रहती। वह साधक अध्यात्म भाव में इतना गहरा लीन हो जाता है कि आहार के अभाव में भी उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा या संक्लेश नहीं होता।[२६]

संलेखना के साथ भी आगमों में प्रायः 'मारणांतिक' विशेषण जोड़ा गया है। **'मारणांतिय संलेहण'** शब्द स्थान-स्थान पर प्रयुक्त होता है। इससे अन्य तपःकर्म से संलेखना का पार्थक्य और वैशिष्ट्य सूचित होता है। पार्थक्य तो यह है कि यह इत्वरिक तप के अन्तर्गत नहीं आता, इत्वरिक तप का कालमान छह मास तक का है, जबकि संलेखना का उत्कृष्ट काल मान बारह वर्ष का माना गया है। प्रवचन सारोद्धार में कहा है[२७]—**"संलेहणा दुवालस वरिसे"**—संलेखना उत्कृष्ट रूप में बारह वर्ष की होती है। उसके तीन भेद भी बड़े मननीय है।

यावत्कथिक तप में भी संलेखना की गणना नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यावत्कथिक का स्वरूप है—जीवन-पर्यन्त आहार आदि की आकांक्षा से विरत हो जाना। संलेखना यद्यपि जीवन के अन्तिम समय में की जाती है, किन्तु मृत्युपर्यन्त आहार का त्याग इसमें नहीं होता। इस क्रिया में विविध प्रकार के तपःकर्म द्वारा शरीर को कृश किया जाता है। बीच-बीच में आहार भी लिया जाता है। हां, छहमास से लम्बा उपवास (अनशन) इसमें नहीं है, इसलिए स्वरूप विवक्षा करने पर इत्वरिक तप के अन्तर्गत इसका समावेश हो जाता है। साथ ही कषायों को क्षीण कर क्षमा, सहिष्णुता का अभ्यास किया जाता है तथा आलोचना आदि करके मन को निःशल्य बनाया जाता है।

संलेखना श्रमण और श्रमणोपासक दोनों के लिए ही विहित और आवश्यक अनुष्ठान है। उपासक दशा के वर्णन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द कामदेव आदि श्रावकों ने भी बहुत वर्षों तक गृहस्थ जीवन में सुख भोग करने के पश्चात् यह संकल्प किया कि "हमने जीवन में समाज, परिवार, राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र में प्रवृत्ति कर अपना यश, वैभव आदि बढ़ाया है, परिवार व आश्रितों का पालन किया है। किन्तु इस प्रवृत्तिमय जीवन में पूर्ण रूप से आत्मचिन्तन नहीं कर सका। भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म प्रज्ञप्ति का पूर्णतः पालन नहीं कर सका। अब मुझे इन सब प्रवृत्तियों से विरक्त होकर भगवद् प्ररूपित धर्म प्रज्ञप्ति को स्वीकार कर विचरना चाहिए।" यह निश्चय कर वह अपनी पौषधशाला में आता है और आस-पास की भूमि की प्रतिलेखना कर **"दब्भ संथारयं संथरइ"** दर्भ का संथारा बिछाता है और धर्म प्रज्ञप्ति अंगीकार कर विविध तपःकार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना द्वारा शरीर को कृश कर डालता है।

यहाँ यह चिन्तनीय है कि हम जिसे—'संथारा' कहते हैं, वह अनशन का वाचक है, जबकि आगमों में 'संथारा' का अर्थ 'दर्भ का बिछौना' के रूप में ही आता है। संलेखना शब्द के विषय में भी सामूहिक प्रयोग हुए हैं। जैसे—मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता।" यहाँ पर यह चिन्तनीय है कि क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मासिक संलेखना और साठ भक्त अनशन दोनों का कालमान अलग-अलग है या एक अनशन के ही वाचक है ? इस पर आगम मर्मज्ञों को विचार करना चाहिए। वास्तव में संलेखना भी जीवन की अन्तिम आराधना ही है, किन्तु वह अनशन की पूर्व भूमिका मानी जानी चाहिए। प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में इसका स्पष्ट संकेत है कि द्वादश वर्षीय उत्कृष्ट संलेखना करके फिर कन्दरा-पर्वत, गुफा आदि में जाकर अथवा किसी भी निर्दोष स्थान पर जाकर पादपोपगमन अनशन करे अथवा भक्त परिज्ञा तथा इंगिनीमरण की आराधना करे।[२५] इस वर्णन से तो यही ध्वनित होता है कि संलेखना अनशन की पूर्व भूमिका है, अनशन की तैयारी है। संलेखना करने वाला साधक शरीर को तथा कषाय आदि को इतना कृश कर लेता है कि अनशन की दशा में उसे विशेष प्रकार की क्लामना नहीं होती। शरीर एवं मन को उसके लिए तैयार कर लेता है, कषाय वत्तियाँ अत्यन्त मन्द हो जाती है तथा शरीर बल इतना क्षीण हो जाता है कि अनशन दशा में स्वत: ही स्थिरता की साधना सम्भव हो जाती है। शरीर त्याग हठात् या अकस्मात् करने जैसा नहीं है। शरीर के साथ-साथ आयुष्य कर्म की क्षीणता भी होनी चाहिये। कल्पना करें यदि अनशन कर शरीर को क्षीण करने की प्रक्रिया तो प्रारम्भ कर दी जाए, लेकिन आयुष्य कर्म बलवान हो तो वह अनशनकाल बहुत लम्बा सुदीर्घ हो सकता है अति दीर्घकालीन अनशन में भावों की विशुद्धि, समता तथा मनोबल एक-जैसा बना रहे तो ठीक है, अन्यथा विकट स्थिति भी आ सकती है। इसलिए यावज्जीवन अनशन ग्रहण करने के पूर्व जैसे दीपक के तेल और बाती का एक साथ ही क्षय होने से ही दीपक विलय हो जाता है, उसी प्रकार देह और आयुष्य कर्म का एक साथ क्षय होने से अनशन की स्थिति ठीक से पूर्ण होती है। अनशन से पूर्व संलेखना की आराधना करने का यही हेतु है।

संलेखना की विधि

संलेखना की व्याख्या तथा उद्देश्य स्पष्ट होने के बाद हमें उसकी विधि के सम्बन्ध में भी जानना है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है—"संलेहणा दुवालस वरिसे"—संलेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का है। उसके तीन भेद बताये गये हैं—"सा जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च।"[२६] जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट—ये तीन भेद संलेखना के हैं।

प्रवचन सारोद्धार में उत्कृष्ट संलेखना का स्वरूप बताते हुए कहा है—

चत्तारि विचित्ताइं विगइ निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोन्नि एगंतरियं च आयामं। ६८२।
नाइविगिद्धो य तवो छम्मास परिमिअं च आयामं।
अवरे विय छम्मासे होई विगिटठं तवो कम्मं। ६८३।

प्रथम चार वर्ष तक चतुर्थ-षष्ठ अष्टम आदि तप करता रहे और पारणे में सभी प्रकार के योग्य शुद्ध आहार का ग्रहण करे। अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध और विचित्र प्रकार के तप करता रहे किन्तु पारणे में रस-निर्यूढ़ सविगय का त्याग कर दे। आठ वर्ष तक तप: साधन करने के बाद नौवें दसवें वर्ष में एकान्तर तप (चतुर्थ भक्त) व एकान्तर आयम्बिल करे, अर्थात् एक उपवास, उपवास के पारणे में आयम्बिल, फिर उपवास और फिर पारणे में आयम्बिल। इस प्रकार दस वर्ष तक यह तप: कर्म करे। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छहमास में सिर्फ चतुर्थ व षष्ठ तप करे, इससे अधिक नहीं और पारणे में आयंबिल करे, किन्तु आयंबिल ऊनोदरी पूर्वक करे। अगले छह मास में चतुर्थ-षष्ठ से अधिक अष्टम, दशम आदि तप करे और पारणे में आयंबिल करे, इसमें ऊनोदरी का विधान नहीं है।

संलेखना के बारहवें वर्ष के सम्बन्ध में आचार्यों के अनेक मत हैं। निशीथ चूर्णिकार का मत है कि **"दुवालसयं वरिसं निरन्तरं हायमाणं उसिणोदराण आयंबिलं करेइ तं कोड़ीसहियं भवइ जेणयं बिलस्स कोडी कोडीए मिलइ।"** बारहवें वर्ष में निरन्तर उष्ण जल के आगार के साथ हायमान आयंबिल करे। इससे एक आयंबिल का अन्तिम क्षण दूसरे आयंबिल के आदि क्षण से मिल जाता है, जिसे कोडीसहियं आयंबिल कहते हैं। हायमान का अर्थ निरन्तर घटाते जाना। भोजन व पानी की मात्रा क्रमश: कम करते-करते वर्षान्त में उस स्थिति में पहुँच जाए कि एक दाना अन्न और एक बूंद पानी ग्रहण करने की स्थिति आ जाए। प्रवचनसारोद्धार की वृति में भी इसी क्रम का निदर्शन है।

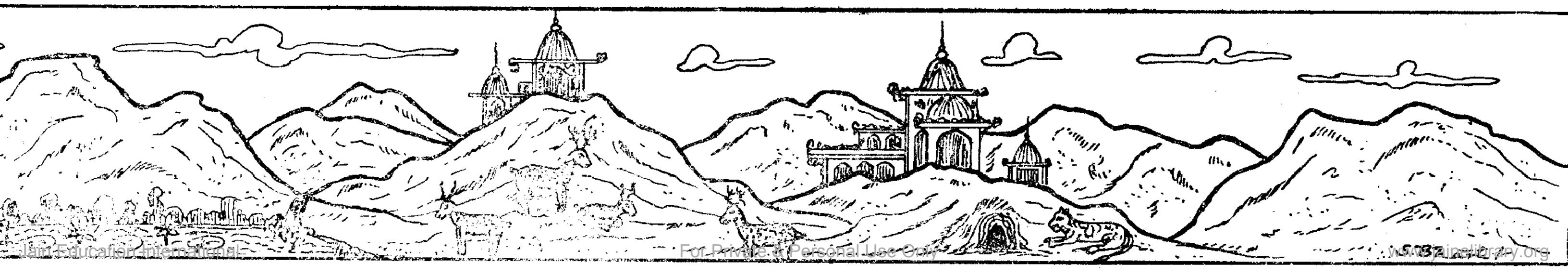

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वन् प्रतिदिनमेकैक कवल-हान्यातावदूनो दरतां करोति यावदेकं कवलमाहारयति।

बारहें वर्ष में भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करते जाना चाहिए। यों कम करते-करते, जब एक कवल आहार पर आजाए तब उसमें से एक-एक दाना (कण) कम करना शुरू करे। एक-एक कण (सिक्थ) प्रतिदिन कम करते-करते अन्तिम चरण में एक ही सिक्थ-दाना भोजन पर टिक जाए। इस स्थिति में पहुँचने के पश्चात् फिर पादपोगम अथवा इंगिनी मरण आदि अनशन ग्रहण कर समाधि मरण प्राप्त करे।

यह उत्कृष्ट संलेखना विधि है। मध्यम संलेखना बारह मास की और जघन्य संलेखना बारह पक्ष (छह मास) की होती है—"जघन्या च द्वादशभि: पक्षे परिभावनीया।"

संलेखना में प्राय: तप की विधि ही बताई गई है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सिर्फ तप करना ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मंदता और विषयों की निवृत्ति तो मुख्य चीज है ही। उसके अभाव में तो तप ही असार है। फिर भी भावना-विशुद्धि, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि का उपक्रम भी चालू रखना होता है। बृहत्कल्प भाष्य में बताया है—साधक रात्रि के पश्चिम प्रहर में धर्म जागरण करता हुआ उत्तम प्रशस्त भावनाओं के प्रवाह में वहता-बहता यह सोचता है—

अणुपालिओ उ दीहो परियाओ वायणा तहा दिण्णा।
णिप्फाइया य सीसा मज्झं किं संपयं जुत्तं ॥३७३॥

—मैंने दीर्घकाल तक निर्दोष संयम की परिपालना की है। शिष्यों को वाचना आदि द्वारा शास्त्र ज्ञान भी दिया है। अनेक व्यक्तियों को संयम में प्रेरणा और प्रवर्तन भी किया है। इस प्रकार मैं अपने जीवन में कृतकृत्य हो गया हूँ, अब मुझे अपने लिए क्या करना उपयुक्त है? यह सोचकर वह अपने जीवन को संलेखना की ओर मोड़े—"**संलेहण पुरस्सरं मेंअ पाराण वा तय पुव्वि**"—इस संलेखना में अनेक प्रकार के विचित्र तप: कर्म के साथ प्रशस्त भावनाओं का अनुचिन्तन करे, अप्रशस्त भावनाओं को छोड़े और अन्तिम आराधना करे "**कालं अणवकंखमाणो**।"—मृत्यु की इच्छा न करता हुआ आत्म शुद्धि के प्रयत्न में संलग्न रहे।

उक्त वर्णन से संलेखना के स्वरूप पर विशुद्ध प्रकाश पड़ता है। संलेखना धीरे-धीरे शान्त भाव से मृत्यु की ओर प्रस्थान है। शरीर और मन को धीरे-धीरे कसा जाता है, और विषय निवृत्ति का अभ्यास बढ़ा दिया जाता है। हठात् किसी दुष्कर काम को हाथ लगाना और फिर बीच में विचलित हो जाना बहुत खतरनाक हैं। अत: साधक के लिए यह मनोवैज्ञानिक भूमिका है कि वह क्रमश: तप और ध्यान के पथ पर बढ़े, मनोनिग्रह का अभ्यास बढ़ाये और मन को इतना तैयार करले कि अन्तिम स्थिति में पहुँचते-पहुँचते वह परमहंस दशा—जिसे शास्त्रों की भाषा में 'पादोपगमन अनशन' कहते हैं कि स्थिति को स्वत: प्राप्त कर ले।

जीवन और मृत्यु से सर्वथा असंलीन होकर शुद्ध चैतन्य दशा में रमण करने लगे। उसका शरीर भी स्वत: ही इस प्रकार की निश्चेष्टता ग्रहण करले कि न हाथ हिलाने का संकल्प हो, न शरीर खुजलाने का। यह परम शान्त और आह्लादमय स्थिति है, जिसमें साधक को आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं दीखता है। वह प्राण-धारण किये रहता है। किन्तु फिर भी निश्चेष्ट और निर्विकल्प और अन्त में उस स्थिति में देह त्याग कर वह अपनी मंजिल तक पहुँच जाता है।

तो संलेखना हमें मृत्यु को जीतने की यह कला सिखाती है। वास्तव में जीवन-शुद्धि और मरण शुद्धि की वह प्रक्रिया है जिसे सामान्य मनोबल वाला साधक भी धीरे,धीरे करता हुआ विशिष्ट मनोबल प्राप्त कर सकता है। संलेखना द्वारा जीवन विशुद्धि करने वाले की मृत्यु, मृत्यु नहीं—समाधि है, परम शान्ति है और सम्पूर्ण व्रत-तप ज्ञान आदि का यही तो फल है कि साधक अन्तिम समय में आत्मदर्शन करता हुआ समाधिपूर्वक प्राण त्यागे।

तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्यु: समाधिना॥ —मृत्यु महोत्सव २३

समाधि मरण की कला पर जैन आगमों में जो विस्तृत विचार किया गया है। उसकी यहाँ एक झलक प्रस्तुत निबन्ध में है। इस पर चिन्तन कर हम मृत्यु की श्रेष्ठ और उत्तम कला सीख सकते हैं और मृत्युंजय बन सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ आचारांग १।४।२
२ गीता २।१२
३ भगवती सूत्र १३।७
४ तत्त्वार्थराजवार्तिक २।२२
५ गीता २।२७
६ सूत्रकृतांग २।१।३
७ आचारांग १।४।२
८ आतुर प्रात्याख्यान ६३
९ (क) संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥—मृत्यु महोत्सव १७
(ख) संचित तपोधन न नित्यं व्रतनियम संयमरतानाम् ।
उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥—वाचक उमास्वाति
(अभिधान राजेन्द्र, भाग ६, पृ० ११७)
१० भगवती शतक २१, उद्देशक ?
११ बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे ॥ उत्तरा० ५।३–४
१२ मरण विभक्ति प्रकरण १०।२४५
१३ भक्त परिज्ञा २१७ (अभि० रा० भाग ६, पृ० ११२७)
१४ उत्त० पाइय टीका, आ० ५
१५ स्थानांग ३, पृ० ४
१६ स्थानांग २।३।४
१७ भगवती २।१
१८ उत्त० पाईय टीका, अ० ५, गा० २२५
१९ आचारांग ८।८।४
२० जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ, से गिलामि च खुल अहं, इमंसि समये इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणुपुव्वेण आहारं संवट्टिज्जा।···कसाये पयणु किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिब्बुडे ।
—आचारांग, विमोक्ष अध्ययन उद्दे० ६, सूत्र २२१
२१ स्थानांग २, उ० २ वृत्ति
२२ ज्ञाता १।१। वृति
२३ प्रवचन सारोद्दार १३५
२४ पंचाशक विवरण १
२५ इत्तरिय मरण कालाय अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिया सावकंखा निरवकंखा उ बिइज्जिया ॥—उत्तरा० ३० । ९
२६ जीवियासंसप्पओगि वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सेइ ।—उत्तरा० २९।३५
२७ प्रवचन सारोद्धार १३४ द्वार
२८ द्वादश वार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतद् अन्यदपि षट् कायोपमर्द्द रहितं विविक्तं स्थानं गत्वा पादपोपगमनं वा शब्दाद् भक्त परिज्ञामिङ्गिनी मरणं च प्रपद्यते ।
—प्रवचन० द्वार १३४ (अभि० रा० भाग ६, पृ० २१७)
२९ व्यवहार भाष्य २०३.

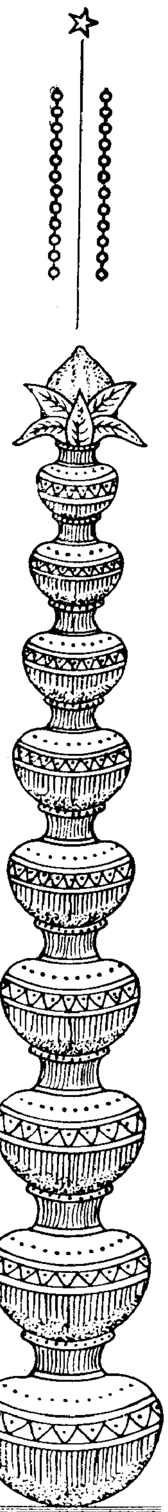

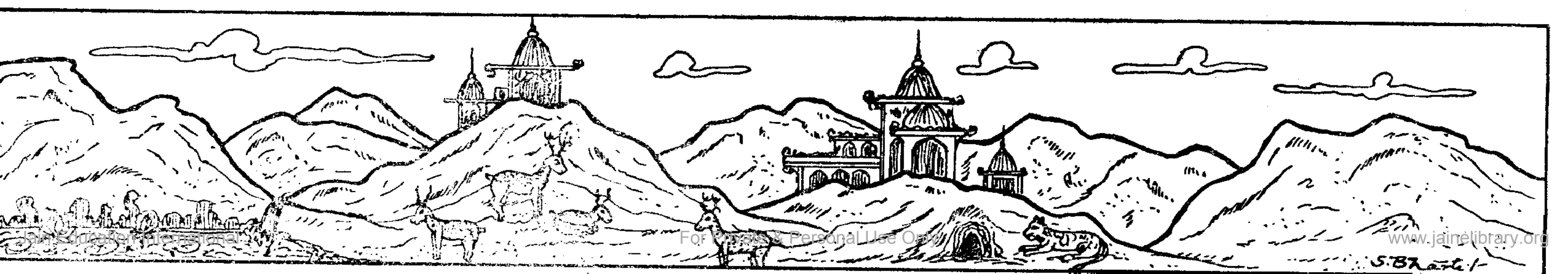

For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org